सपदि संपदि संविदि वा सुखी, विपदि नो भुवि योऽविदि वाऽसुखी।
स हि परीषहकान् श्रयितुं क्षमः, शुचितपश्च विधातुमिह क्षमः।।

पद-पूजन संपद संविद पा पद-पद होते सुखित नहीं,
निन्दन, आपद, अपयश में फिर साधु कभी हो दुखित नहीं।
दुस्सह सब परिषह सहने में सक्षम ऋषिवर धीर सभी,
आत्म ध्यान के पात्र, ध्यान कर पाते हैं भव तीर तभी।।६६।।

अर्थ – पृथ्वी पर जो संपत्ति और सम्यग्ज्ञान में सुखी तथा विपत्ति और अज्ञान में शीघ्र ही दुखी नहीं होता, वही परीषहों को सहन करने में समर्थ होता है और वही निर्मल तप करने में शक्त होता है।।६६।।

यमविहीनतपश्चरणेन किं, च्युतपरीषहतश्चरणेन किम्।
ननु विना सुदृशा न हि संगतं, सकलमेनस एव वशंगतम्।।

दुष्कर तप से नहीं प्रयोजन संयम से यदि रहित रहा,
परिषहजय बिन नहीं सफलता यद्यपि व्रत से सहित रहा।
यम-दम-शम-सम सकल व्यर्थ हैं समदर्शन यदि ना होता,
पाप पंक से लिपा कलंकित जीवन मौलिक नहिं, थोथा।।६७।।

अर्थ – संयमहीन तत्पश्चरण से क्या प्रयोजन है? परीषहविजय से रहित चारित्र से क्या प्रयोजन है? सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता। खेद है कि सकल जगत् पाप के वश हो रहा है।।६७।।

चर्याशय्यानिषद्यासु वान्यतमाऽस्तु चैकदा।
शीतोष्णयोर्भवेत्तद्वदागमानुभवादिति।।

शीत परीषह, उष्ण परीषह एक समय में कभी न हों,
चर्य्या, शय्या तथा निषद्या एक साथ ये सभी न हों।
ऐसा जिनवर का आगम है हम सबको यह बता रहा,
अनुभव कहता, स्ववश परीषह सहो सही, फिर व्यथा कहाँ।।६८।।

अर्थ– एक समय चर्या, शय्या और निषद्या में से कोई एक तथा शीत और उष्ण में से कोई एक परीषह होता है। यह आगम और अनुभव से सिद्ध है।।६८।।

दशपरीषहकाश्च नवाधिका, इति भवन्तु समं विधिबाधकाः।
द्वयधिकविंशतिका जिनसेविता, मम तु सन्त्वखिलास्तपसेऽहिताः।।

एक साथ उन्नीस परीषह मुनि जीवन में हो सकते,
समता से यदि सहो साधु हो विधिमल पल में धो सकते।
सन्त साधुओं तीर्थकरों ने सहे परीषह सिद्ध हुए,
सहूँ निरन्तर उन्नत तप हो समझूँ निज गुण शुद्ध हुए।।६९।।

अर्थ – ऊपर लिखे अनुसार मुनिचर्या में बाधा डालने वाले उन्नीस परिषह एक साथ हो सकते हैं। मुनि अवस्था में जिनेन्द्र देव को भी बाईस परीषह सहन करने पडे हैं। मेरे भी तप के लिये अहितकारी सभी परिषह हैं।।६९।।

वै विषमयीविद्यां विहाय ज्ञानसागरजां विद्याम्।
सुधामेम्यात्मविद्यां नेच्छामि सुकृतजां भुवि द्याम्।।

पुण्य-पाक है सुरपद संपद सुख की मन में आस नहीं,
आतम का नित अवलोकन हो दीर्घ काल से प्यास रही।
तन से, मन से और वचन से तजूँ अविद्या हाला है,
'ज्ञान-सिन्धु' को मथकर पीऊं समरस 'विद्या', प्याला है।।१००।।

अर्थ – मैं निश्चय से विषरूप अविद्या को छोड़कर ज्ञानरूप सागर में समुत्पन्न (पक्ष में ज्ञानसागर गुरु से उत्पन्न) आत्मविद्यारूपी सुधा–अमृत को प्राप्त करता हूँ। पृथिवी पर पुण्योदय से प्राप्त स्वर्ग की इच्छा नहीं करता हूँ।।१००।।

वैराग्यमूर्तिः प्रणतिं सुनीता,चिदेकभूतिश्च शिवप्रसूतिः।
विरच्यतेऽदः शतकं सुनीतेरीतेरभावोऽस्तु ततो धरायाम्।।

चिन्मय-धन के धनिक रहे हैं, शिवसुख के जो जनक बने।
विरागता के सदन जिन्हें हो नमन सदा यह कनक बने।।
लिखी गई यह अल्प ज्ञान से नीतिशतक की रचना है।
रोग शोक ना रहे धरा पर ध्येय पाप से बचना है।।१।।

अर्थ – वीतराग, सर्वज्ञ और मोक्षमार्गोपदेशी–अर्हन्त परमेष्ठी को नमस्कार कर यह सुनीतिशतक रचा जा रहा है। इससे पृथिवी पर ईतियों का अभाव हो।।१।।

स्तुति - शतक

मूल्येन पुष्टं च मलेन जुष्टं, नवीनवस्त्रं न हि नीरपायि।
गुरूपदेशामृतरागहीनः, शास्त्रोपजीवी खलु धीधरोऽपि।।

नया वस्त्र हो मूल्यवान हो मल से यदि वह समल रहा।
प्रथम बार तो छू नहिं सकता जल को, जल हो विमल अहा।।
उपदेशामृत सन्तों से सुन करता आना कानी है।
शास्त्रों का व्यवसाय चल रहा जिसका, बुध जो मानी है।।२।।

अर्थ – महार्घ और मलिन नवीन वस्त्र नीरस्पर्शी नहीं होता। विद्वान् भी यदि गुरुओं के उपदेशामृत सम्बन्धी राग से रहित है तो वह भी यथार्थतः शास्त्रों से अपनी आजीविका ही चलाता है विद्वत्ता के फल से रहित है।।२।।

शरीरसम्बन्धिकुलादियोगा न्मुनेर्मुनित्वं न मलत्वमेतु।
वर्णेन कृष्णास्तु भवन्तु गावः, कदापि कृष्णं न तु तत्पयोऽस्तु।।

शिवसुखकारक भवदुखहारक मुनि का मुनिपन विमल घना।
देहाश्रित कुल-जात पात से सुनो ! कभी ना समल बना।।
यही समझ में सब को आता कृष्ण-वर्ण की गायें हों।
किन्तु दूध क्या? काला होता दूध धवल ही पायें ओ!।।३।।

अर्थ – शरीर सम्बन्धी कुल–गोत्रादि के योग से मुनि का मुनिपना मलिनता को प्राप्त न हो। जैसे गायें वर्ण से काली भले ही हों पर उनका दूध काला नहीं होता।।३।।

वाञ्छन्ति सन्धिं न यमेन सार्धमक्षार्थमुग्धा वयसैव वृद्धाः।
विद्धि ध्रुवं तैरश्चरणेन पुष्टे, शैथिल्यभावाश्चरणे विशन्ति।।

यद्यपि वय से वृद्ध हुये हैं संयम से अति ऊब रहे।
विषयरसिक हैं विरति विमुख हैं विषयों में अति डूब रहे।।
उनकी संगति से शुचिचारित मुनियों का वह समल बने।
वृद्ध-साथ हो युवा चले यदि युवा चरण भी विकल बने।।४।।

अर्थ – इन्द्रियविषयों में आसक्त रहने वाले जो मनुष्य संयम से सन्धि नहीं करते हैं वे अवस्था से वृद्ध हैं, ज्ञान और संयम से नहीं। चारित्र में शिथिलता रखने वाले ऐसे मनुष्य निश्चय से तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होते हैं, यह जानो।।४।।

ज्ञानेन वृद्धो यदि पक्षपाती, निजान्यहा स द्वयलोकशून्यः।
पयः पवित्रं परमार्थिपेयं, लावण्ययोगात् किमु किंचिदस्ति।।

ज्ञानवृद्ध औ तपोवृद्ध यदि पक्षपात से सहित तना।
उभय लोक में सुख से वंचित निज पर का वह अहित बना।।
सज्जन पीते पेय रहा है पावन पय का प्याला है।
छोटी सी भी लवण-डली यदि गिरती, फिर क्या ? हाला है।।५।।

अर्थ – ज्ञान वृद्ध मनुष्य यदि पक्षपाती है–एकान्तवादी है तो वह निज–पर का घातक और उभयलोक से भ्रष्ट होता है। पवित्र दूध परमार्थी जनों के द्वारा पेय–पीने योग्य होता है पर नमक के मिलने पर क्या कुछ रहता है? अर्थात् नहीं। अपेय हो जाता है।।५।।

अक्षार्थकास्ते हितका भवन्ति, धर्मोऽहितः पापवतां भवेऽस्ति।।
तथ्यं च पथ्यं न हि रोचते तत्, सत्यां रुजायां विधिरोगिणेऽत्र।।

पाप पंक में फसे हुये हैं, विषय-राग को सुख जाने।
मोह पाश से कसे हुये हैं वीत-राग को दुख माने।।
सत्य रहा यह, कर्म-योग से जिनको होता रोग यहाँ।
पथ्य कहाँ वह रुचता उनको अपथ्य रुचता भोग महा।।६।।

अर्थ – जो मनुष्य अक्ष–आत्मसम्बन्धी कार्यों में सुख मानते हैं वे इस संसार में हितकारी हैं। पापी मनुष्यों के लिये धर्म अहितकारी जान पड़ता है। उचित है–कर्मरूपी रोग से युक्त मनुष्य के लिये रोग होने पर पथ्य–हितकारी वस्तु अच्छी नहीं लगती, यह जो लोकप्रसिद्धि है, वह सत्य ही है।।६।।

धनी तु मानाय धनं ददाति, धनाय मानाय धियं तु धीमान्।
प्रायः प्रभावोऽस्तु कलेः किलायं, दूरोऽस्तु धर्मो नियमाच्च ताभ्याम्।।

मानभूत के वशीभूत हो धनिक दान खुद करते हैं।
मान तथा धन की आशा से ज्ञान-दान बुध करते हैं।।
प्रायः ऐसा प्रभाव प्रचलित कलियुग का है विदित रहे।
वीतराग-मय पूज्य धर्म से इसीलिए ये स्खलित रहे।।७।।

अर्थ- धनी मनुष्य अहंकार अथवा सम्मान के लिये धन देते हैं और विद्वान् धन तथा सम्मान पाने के लिये अपनी बुद्धि का उपयोग करते हैं। यह प्रायः कलिकाल का प्रभाव है। परमार्थतः धर्म उन दोनों से दूर है।।७।।

व्रतं विदग्धं व्रतिनां धियां वा, लोभार्चिषा सारविधातृ पूतम्।
बाह्येन शेषं नहि चान्तरेण, गजेन भुक्तं तु कपित्थवत् तत्।।

काल रूप ले लोभ अनल वह जीवन में जब खिलता है।
सुधी जनों का व्रती जनों का अपनापन ही जलता है।।
भीतर में नहिं भले बाह्य में भेष-गात्र वह भार रहो।
निगला गज ने 'कैंथ' निकलता शेष मात्र बस बाहर ओ।।८।।

अर्थ- व्रतीजनों अथवा ज्ञानीजनों का सारपूर्ण, पवित्र व्रत यदि लोभानल से दग्ध होता है तो वह बाह्य में ही शेष रहता है, अन्तरग में नहीं। जैसे हाथी के द्वारा निगला हुआ कैंथा बाहर में पूर्ण दिखता है पर भीतर सार से रहित होता है।।८।।

परिग्रहो विग्रहमूल हेतुः, परिग्रहो विग्रहभाव धाता।
परिग्रहो विग्रहराजमार्गः, परिग्रहोऽनेन विमुच्यते सः।।

भव भव में नव तन का कारण यही परिग्रह माना है।
वैर-कलह का जनक रहा है यही परिग्रह बाना है।।
यही परिग्रह राजमार्ग है जिस पर शनि का विचरण हो।
अतः परिग्रह तजता यह मुनि जिससे इसका सुमरण हो।।९।।

अर्थ- यतश्च परिग्रह विद्वेष का मूल कारण है, परिग्रह विद्वेषभाव को धारण अथवा उत्पन्न करने वाला है और परिग्रह युद्ध का प्रमुख मार्ग है अतः वह साधुओं के द्वारा छोड़ा जाता है।।९।।

असंयतानां विदुषामपीह, ज्ञाने स्वभावत् गुणता न भातु।
स्पार्श्य न दृश्यं मृदुता न नव्यं, केशेषु घृष्टेर्भुवि मित्र! दृष्टम्।।

साक्षर होकर जीवन जिसका मोहादिक से शोभित है।
ज्ञान, ज्ञानपन से वंचित है संयम से नहिं शोधित है।।
शूकर के केशों को देखो कहां ललित हैं जटिल कहां?
स्पर्शनीय या दर्शनीय या कोमल-कोमल कुटिल कहां?।।१०।।

अर्थ - असंयमी विद्वानों की भी स्वभाव से ज्ञान विषयक गुणता–अप्रधानता सुशोभित न हो। जैसे कि पृथ्वी पर सूकर के वालों में न स्पर्श है, न मनोहरता है, न कोमलता है और न नूतनता है।।१०।।

सत्सन्निधाने पतितोऽसुमान्यः, श्रीकण्ठभावं ध्रुवमातनोति।
रसं गतं शुक्लदधीदमत्र, श्रीखण्ड भावं किमु नाभ्युपैति?।।

पाप पंक में पतित हुआ हो साधु समागम यदि पाता।
प्रथम पुण्य से भव वैभव पा मुक्ति समागम पुनि पाता।।
मिश्री का यदि सुयोग पाती खट्टी हो वह यदपि दही।
इष्ट मिष्ट श्रीखण्ड बनेगी, मूढ़ चाहता तदपि नहीं।।११।।

अर्थ – जो मनुष्य सत्संगति में पहुंच जाता है वह निश्चित शिवत्व–शंकरत्व–श्रेष्ठत्व को प्राप्त हो जाता है। इस जगत् में यह शुक्ल दही मिश्री के संसर्ग से उत्पन्न मधुररस के साथ मिलकर क्या श्रीखण्डभाव–सुरवादुपेयता को प्राप्त नहीं हो जाता? अर्थात् हो जाता है।।११ ।।

तनूभृतां व्याधिसुमन्दिरं सा, तनुर्मनोऽप्याधिकमन्दिरं तत्।
सुसाधुदेहोऽचलमन्दरो ऽस्तु, चेतः समाधेः शिवमन्दिरं तु।।

जग के जड़ जंगम जीवों का काय व्याधि का मन्दिर है।
दुस्सह दुख का मूल हेतु है चित्त आधि का मन्दिर है।।
साधु जनों का किन्तु काय वह अचलराज है, मन्दर है।
निज-पर सुख का कारण मन है जीवित शिव का मन्दिर है।।१२।।

अर्थ – प्राणियों का वह शरीर रोगों का घर है और वह मानसिक पीड़ाओं का स्थान है परन्तु सुसाधु का शरीर मेरु के समान स्थिर–परिषहविजयी और मन समाधि–ध्यान का उत्तम स्थान है।।१२।।

इता त्विति केवलबोधशक्तिः, शक्तेर्विधेराभवतोऽङ्गिनां सा।
यथोदिते व्योमनि भास्करेऽस्मिन्, दलोऽप्युडूनां न हि दृश्यतेऽयम्।।

केवलज्ञानावरणादिक जड़ कर्मो का जब उदय रहा।
पूर्ण ज्ञान का उदय नहीं हो अनन्त सुख का निलय रहा।।
विशाल नभ मण्डल में जैसा उदित प्रभाकर लोहित हो।
तारक दल वह लुप्त-गुप्त हो शशि भी शीघ्र तिरोहित हो।।१३।।

अर्थ - कर्म की सामर्थ्य से जीवों की वह केवलज्ञान की शक्ति अनादि संसार से उस तरह समाप्ति को प्राप्त हो रही है जिस प्रकार कि इस आकाश में सूर्य के उदित होने पर नक्षत्रों का यह समूह नहीं दिखाई देता है।।१३।।

धूम्रप्रसूतिर्ज्वलतो यथा स्या-दार्द्रेन्धनात् सा नियतेह दृष्टा।
विरागदृष्टे र्न हि पुष्टितुष्टी, स्यातां गृहे सा तु सरागदृष्टिः।।

गृहस्थ जब तक गृह में रहता विरागता का श्वास नहीं।
जैसा जीवन अनुभव वैसा सरागता का वास वहीं।।
सूखी लकड़ी जलती जिससे धूम्र नहीं वह उठता है।
गीली लकड़ी मन्द जलेगी धूम्र उठे, दम घुटता है।।१४।।

अर्थ - जिस प्रकार जगत् में अग्नि से जो धूम की उत्पति देखी जाती है वह गीले इन्धन के संयोग से देखी गयी है। इसी प्रकार पोषण और संतोष सरागदृष्टि के होते हैं, विरागदृष्टि के नहीं। वह सरागदृष्टि घर में रहने वालों के होती है, गृहत्यागी मुनियों की नहीं।।१४।।

अध्यात्मशास्त्रं शमिने सुधा स्यात्, सङ्गात्मनेऽस्मिन् विषमं विषं तत्।
मीनस्य नीरं खलु जीवनं हा, मृत्युः परस्मै विदितं न केन?।।

मुनियों को अध्यात्म शास्त्र वह प्रायः परमामृत प्याला।
विषयरसिक हैं गृही जनों को विषम-विषमतम है हाला।।
जीवन-दाता प्राण-प्रदाता नीर मीन को माना है।
औरों को तो मृत्यु रहा है यही योग्यता बाना है।।१५।।

अर्थ - इस जगत् में अध्यात्मशास्त्र, शान्तपरिणामी–गृहत्यागी मुनि के लिये अमृत रूप होता है, परन्तु परिग्रही गृहस्थ के लिये तो विषम विषरूप होता है। जैसे निश्चयतः पानी मछली के लिये जीवन–प्राणदायक परन्तु दूसरे के लिये मृत्युरूप है, यह कौन नहीं जानता?।।१५।।

स्वभाव-भुक्तिर्न विभावमुक्ति-स्तनूभृति त्यक्ततनौ यथा स्यात्।
प्रकाशशक्ति र्न हि गन्धभावो, दुग्धेऽमलत्वं तु घृते समस्तु।।

तन से रीते शिव जिन जीते उनमें संभव हो भव ना।
स्वभावदर्शन विभावघर्षण तन-धारक में संभव ना।।
कहाँ दूध से प्रकाश मिलता तथा दूध में गन्ध कहाँ?
प्रकाश देता तथा महकता घृत से जल का बंध कहाँ?।।१६।।

अर्थ - जिस प्रकार मृत प्राणी में न स्वभाव का संवेदन है और न विभाव का मोचन, उसी प्रकार प्रकाश की शक्ति और गन्ध का सद्भाव दूध में नहीं है किन्तु घृत में अच्छी तरह है। तात्पर्य यह है कि अशुद्ध दशा में शरीर का परित्याग – मरण होने पर भी आत्मस्वभाव का वेदन नहीं होता और न विकारी भावों का मोचन। किन्तु यह सब शुद्ध दशा होने पर होता है।।१६।।

भोगोपभोगेषु रतो न, मानी, योगोपयोगेषु परः प्रमाणी।
नासाग्रदृष्टि र्न हि सान्यथा ते, विनेति मानेन मनोऽनुमन्ये।।

भोग और उपभोगों से तो विरत रहे हो मानी हो।
योग और उपयोगों में जो निरत रहे परमाणी हो।।
नासा पर फिर दृष्टि रही क्यों? ऐसा यदि भगवान नहीं,
मान बिना यह परिणति ना हो मेरा यह अनुमान सही।।१७।।

अर्थ - हे भगवान्! आप भोग और उपभोग में रत–लीन नहीं है इसलिये मानी–स्वाभिमानी हैं तथा योग–ध्यान और उपयोग–ज्ञानदर्शन में पर–तत्पर है इसलिये प्रमाणी–प्रकृष्ट मान से युक्त हैं। पक्ष में प्रमाण ज्ञान से सहित हैं। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो आपकी नासाग्रदृष्टि नहीं हो सकती। मान के बिना मन कैसे रह सकता है, यह अनुमान करता हूँ।।१७।।

भूत्वा नरोऽयं सुकृतात् सुसङ्ग, व्रतं कदं नोऽप्यकदं प्रयाति।
उदारदातारमगं सरिन्न, क्षारं च वार्धिं कृपणं समेति।।

जीव पुण्य का उदय प्राप्तकर नर जीवन को पाकर भी।
सुखद चरित ना दुखद असंयम प्रायः पाले पामर ही।।
उदार उरनाले पर्वत पर मुड़कर भी नहिं हँसती है।
खरा सागर रहा कृपण है सरिता जिस में फँसती है।।१८।।

अर्थ -- यह प्राणी पुण्य से मनुष्य होकर सुखदायक व्रत को प्राप्त नहीं होता किन्तु दुःखदायक परिग्रह को प्राप्त होता है। उचित ही है क्योंकि नदी उदारदानशील अग--पर्वत अथवा वृक्ष को तो प्राप्त नहीं होती किन्तु खारे और कंजूस समुद्र के पास जाती है।।१८।।

असंयते श्रीमति धीमतीह, विना प्रयत्नेन मदस्य भावः।
दृष्टेरभावात् किल तापसेऽपि, निद्रा निशायां, समुपैति प्रायः।।

दृष्टि रहित हो घोर घोरतर तप तपता उस तापस में।
श्रीमन्तों में धीमन्तों में तथा असंयत मानस में।।
अनायास ही होता रहता मद जिससे बहु दोष पले।
निशाकाल में निद्रा जैसी प्रायः आती होश टले।।१९।।

अर्थ -- विवेकपूर्ण दृष्टि का अभाव होने से संयमहीन, श्रीमान्, धीमान् और तापसी में भी प्रयत्न के विना ही गर्व का सद्भाव होता है यह ठीक है क्योंकि प्रायः रात्रि में निद्रा प्रयत्न के विना आती ही है।।१९।।

विनात्र रागेण वधूललाटो, विनोद्यमेनापि विभांतु देशः।
दृष्ट्या विना सच्च मुनेर्न वृत्तं, रसेन शान्तेन कवे र्न वृत्तम्।।

लाल तिलक बिन ललना जनका ललाटतल ना ललित रहे।
उद्यम के बिन तथा जगत में देश ख्यात ना दलित रहे।।
परम शान्त रस बिना किसे वह भाती कवि की कविता है।
सम दर्शन के बिना कभी ना भाती मुनि की मुनिता है।।२०।।

अर्थ – इस पृथिवी पर कुंकुम के विना स्त्री का ललाट, व्यवसाय–उद्योग के विना देश, सम्यग्दर्शन के विना मुनि का सम्यक्चरित्र और शान्तरस के विना कवि का छन्द सुशोभित न हो।।२०।।

आसन्नमृत्युर्विषयी कषायी, निष्क्रान्तकान्तिर्ननु दीप्तमोहः।
अत्यन्तवृद्धा गहनेऽम्लिकास्तु, तथापि वृद्धाम्लिकता न सास्तु।।

जीर्ण-शीर्ण तन कान्तिहीन है पर भव भी अब निकट रहा।
मोही का पर विषयों पर ही झपट रहा मन निपट रहा।।
बहुत पुराना इमली का वह रहा वृक्ष अतिवृद्ध रहा।
किन्तु खटाई इमली की नहिं वृद्धा यह अविरुद्ध रहा।।२१।।

अर्थ – जिसकी मृत्यु निकट है तथा कान्ति निकल चुकी है ऐसा विषयकषाय से युक्त मनुष्य निश्चय से तीव्रमोह से युक्त देखा जाता है जैसे वन में इमली के वृक्ष पुराने तो होते हैं पर उनका खट्टापन क्या वही नहीं रहता?।।२१।।

शृङ्गार एवैकरसो रसेषु, न ज्ञाततत्त्वाः कवयो भणन्ति।
अध्यात्मशृङ्ग त्विति राति शान्तः, शृङ्गार एवेति ममाशयोऽस्ति।।

एक रहा शृंगार रसों में रस में डूबे रहते हैं।
तत्त्वज्ञान से विमुख रहे जो इस विध कुछ कवि कहते हैं।।
किन्तु सुनो! अध्यात्मशृंग तक पहुंचाता रस सार रहा।
परम-शान्त रस कवियों का वह सुखकर हैं शृंगार रहा।।२२।।

अर्थ – 'रसो में एक शृंगार रस ही प्रमुख है' ऐसा यथार्थ तत्त्व को जानने वाले कवि नहीं कहते हैं। 'अध्यात्म के शृंग–शिखर–सर्वोच्च स्थान को जो देता है वह शृंगार है इस निरुक्ति से शान्त ही शृंगार रस है' ऐसा मेरा अभिप्राय है।।२२।।

तीर्थङ्कराणां शिवकेशवानां, नामावली सा बलदेवकानाम्।
किं विस्मृता नो जगता मृता या-प्यस्मादृशां कास्तु कथेतरेषाम्।।

नारायण प्रतिनारायण औ तीर्थकर बलदेव धनी।
महा पुरुष वे महामना वे कहां गये जिनदेव गणी?।।
काल-गाल में कवल हुये सब विस्मृत मृत हैं आज़ नहीं।
हम सम साधारण जन की क्या? कथा रही यह लाज रही।।२३।।

अर्थ – तीर्थकर, रुद्र, नारायण और बलभद्रों की भी नामावली मरने के बाद जब जगत् ने भुला दी तब हमारे जैसे साधारण पुरुषों की तो कथा ही क्या हो?।।२३।।

अर्थेन्न युक्तं नरजीवनं न, चार्थे नियुक्तं मुनिजीवनं चेत्।
खपुष्पशीलं च भुवीक्षुपुष्प-वदेव वन्द्यं न विदुर्विमानाः।।

गृही बना पर उद्यम बिन हो धन से वंचित यदि रहता।
श्रमण बना श्रामण्य रहित हो धन में रंजित यदि रहता।।
ईख-पुष्प आकाश-पुष्पसम इनका जीवन व्यर्थ रहा।
सही-सही पुरुषार्थ वन्द्य है जिस बिन सब दुखगर्त रहा।।२४।।

अर्थ – यदि गृहस्थ मनुष्य का जीवन धन से रहित है और मुनि का जीवन धन में संलग्न है तो वह पृथिवी पर आकाश पुष्प और ईख के पुष्प के समान निष्फल है, अतः आदरणीय नहीं है, ऐसा ज्ञानी जन जानते हैं – कहते हैं।।२४।।

संज्ञाततत्त्वोऽप्यधनी गृही स, लोकेऽत्र दृष्टो धनिकानुगामी।
श्वा स्वामिनं वीक्ष्य यथाशुदीनः, सुखाय संचालितलूमकोऽस्तु।।

तत्त्व-बोध को प्राप्त हुये पर धन से यश से यदि रीते।
प्रायः मानव धनी जनों की हां में हां भर कर जीते।।
श्वान चाहता सुखमय जीवन जग में सात्त्विक नामी हो।
पीछे-पीछे पूंछ हिलाता स्वामी के अनुगामी हो।।२५।।

अर्थ – वस्तुतत्त्व का ज्ञाता होकर भी निर्धन गृहस्थ सुख प्राप्ति के लिये उस प्रकार धनिकों का अनुगमन उनकी हॉ में हॉ मिलाता हुआ देखा गया है जिस प्रकार कि मालिक को देखकर सुख पाने की इच्छा से पूँछ हिलाता हुआ कुत्ता शीघ्र दीन हो जाता है।।२५।।

निश्रेयसोऽस्मै मुनये पथीह, संगोऽप्येणुः संचरतेऽस्ति विघ्नः।
वाताहतः पुच्छकमण्डलोऽपि, शिखण्डिने स्वस्य यथास्त्यरण्ये।।

मोक्षमार्ग में विचरण करता श्रमण बना है नगन रहा।
किन्तु परिग्रह यदि रखता है अणुभर भी सो विघन रहा।।
पवन वेग से मयूर का वह पुच्छ-भार जब ताड़ित हो।
मयूर समुचित चल ना सकता विचलित पद हो बाधित हो।।२६।।

अर्थ – यहां मोक्षमार्ग में संचार करने वाले इस मुनि के लिये अल्प भी परिग्रह उस तरह विघ्न करने वाला है, जिस तरह कि वन में विचरने वाले मयूर के लिये वायु से ताडित उसके निजी पिच्छों का समूह।।२६।।

संगस्तु संगोऽस्तु समाधिकाले, संघस्य भारो यमिनेऽस्तु संङ्ग।
वृद्धाय वा भूषणकानि कानि, लघूनि वस्त्राणि गुरूणि सन्तु।।

बात संग की कहें कहां तक सुनो ! संग तो संग रहा।
संघ-भार भी अन्त समय में संग रहा सुन दंग रहा।।
वस्त्राभरणाभूषण सारे बोझिल हो मणिहार तथा।
वृद्धावस्था में तो कोमल-मलमल भी अतिभार व्यथा।।२७।।

अर्थ – मुनि के लिये समाधि के समय परिग्रह तो परिग्रह है ही परन्तु संघ का भार–दायित्व भी परिग्रह हो जाता है। जैसे वृद्ध के लिये सुखदायक लघु आभूषण और वस्त्र भी भारी हो जाते हैं अथवा वृद्ध के लिये अल्प आभूषण क्या है, लघु वस्त्र भी भारी लगने लगते हैं।।२७।।

कायेन वाचा तु गुरुः कठोरो, हितैषिणः स प्रति तान् विनेयान्।
तथा न चित्तेन मृदुर्दयैकधामा लघुः श्रीफलवत् सदास्तु।।

सुख चाहें उन शिष्यों के प्रति कठोरतर व्यवहार करें।
कभी-कभी गुरु रुष्ट हुये से वचनों का व्यापार करें।।
किन्तु हृदय से सदा सदय हो मार्दवतम हो लघुतम हो।
जैसा श्रीफल कठोर बाहर भीतर उज्ज्वल मृदुतम हो।।२८।।

अर्थ – हिताभिलाषी संघस्थ शिष्यों के प्रति गुरु काय और वचन के द्वारा कठोर भले ही हों परन्तु मन से नारियल के समान् कोमल, दया का प्रमुख स्थान और सुगम्य सदा रहना चाहिये।।२८।।

पापाय पापैर्जिनवाक् श्रिता सा, पुण्याय पापातिगकैः पुनीता।
जलस्य धारा रसमिक्षुणा च, निम्बोरगाभ्यां कटुतां सुनीता।।

पापात्मा का आश्रय पाकर सन्त वचन भी पाप बने।
पुण्यात्मा का आश्रय पाकर पुण्य बने भवताप हने।।
नभ से गिरती जल की धारा इक्षु-दण्ड में मधुर सुधा।
कटुक नीम में अहि में विष हो अब तो मन तू सुधर मुधा।।२९।।

अर्थ – पापी मनुष्यों ने पवित्र जिनवाणी का आश्रय पापकार्य – विषयकषाय की पुष्टि के लिये लिया है और निष्पाप–पापरहित मनुष्यों ने पुण्य के लिये। जैसे ईख जल की धारा को मधुररस प्राप्त कराती है और नीम तथा सर्प कड़वा रस।।२९।।

यातोऽस्म्यहं - कारविकारभावं, कायस्य नो तं ममकारभावम्।
यास्याम्यहं कायनिकायभावं, नात्मा भृशं यन्ममकारभावम्।।

अहंकार की परिणति से मैं पूर्ण रूप से विरत रहूँ।
तथा काय की ममता तजकर समता में नित निरत रहूँ।।
यही नियति है बार-बार फिर तन का धारण नहीं बने।
कारण मिटता कार्य मिटेगा प्राण विदारण नहीं बने।।३०।।

अर्थ – मैं शरीर के विषय में अहंकारभाव को और प्रसिद्ध ममकारभाव को प्राप्त नहीं हुआ हूँ अर्थात् शरीर में मेरा अहंभाव और ममत्वभाव नहीं है। मैं शरीर में निकायभाव गृहभाव को प्राप्त हूँगा अर्थात् शरीर को गृहरूप मानूंगा जिसके फलस्वरूप मेरा आत्मा कालभाव–मृत्यु को प्राप्त नहीं हो सकेगा।।३०।।

पापेन पापं न लयं प्रयाति, पुनस्तु पुण्यं पुरुषं पुनातु।
मलं मलेनालमलं लयं तत्, विना विलम्बेन जलेन याति।।

प्रयास पूरा भले करो तुम पाप पाप से नहिं मिटता।
पाप पुण्य से पल में मिटता पुरुष पूत हो सुख मिलता।।
मल से लथपथ हुआ वस्त्र हो मल से कब वह धुल सकता?
विमल सलित से धोलो पल में मूल रूप से धुल सकता।।३१।।

अर्थ – पाप से पाप विनाश को प्राप्त नहीं होता किन्तु पुण्य मनुष्य को पवित्र करता है। जैसे मल से मल नाश को प्राप्त नहीं होता। अतः मल धोने के लिये बिल्कुल व्यर्थ है किन्तु जल के द्वारा वह मल शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाता है।।३१।।

विश्वस्य सारं प्रविहाय विज्ञः, कः स्वं त्वटेत् स्वं भुवि वीतमोहः।
निस्सारभूतं किमु तक्रमिष्टं, स्वादिष्ट आप्ते नवनीतसारे।।

सब सारों का सार रहा है चेतन निधि को त्याग जिया।
रहा अचेतन दुख का केतन जड़ वैभव में राग किया।।
कौन रहा वह बुद्धिमान हो सारभूत नवनीत तजे।
क्षारभूत रसरीत छाछ में भूल कभी क्या? प्रीत सजे।।३२।।

अर्थ – पृथ्वी पर ऐसा कौन निर्मोह ज्ञानी पुरुष है जो सब पदार्थों में सारभूत अपने आत्मा को छोड़कर धन को प्राप्त करना चाहे। स्वादिष्ट मक्खन रूप सार के प्राप्त हो जाने पर क्या सारहीन छांछ इष्ट होती है अर्थात् नहीं।।३२।।

धनार्जनारक्षणयोर्विलीनो, विना सुखेनार्तमना मृतो ना।
मोहस्य शक्तिर्जगता न गम्या, व्यथां गता सा चमरी यथात्र।।

धन के अर्जन संवर्धन और संरक्षण में लीन रहा।
बार-बार मर दुखी हुआ पर आत्मिक सुख से हीन रहा।।
मोह मल्ल की महा शक्ति है उसे जगत कब जान रहा।
पूंछ उलझती झाड़ी में है चमरी खोती जान अहा।।३३।।

अर्थ – धन के उपार्जन और संरक्षण में लगा मानव सुख के विना दुःखी होता हुआ मर जाता है जैसे इस जगत् में सुरागाय पूँछ के बालों की रक्षा में संलग्न रह पीड़ा को प्राप्त होती। अतः मोह की शक्ति–समर्थता जगत् के गम्य नहीं हैं–जानने योग्य नहीं है।।३३।।

शस्ताः प्रजाः सन्तु राज्ञा, राजा तथा नोऽस्तु विना प्रजाभिः।
को नाम सिन्धुः परतन्त्र एव, बिन्दुः स्वतन्त्रः किल सिन्धुहेतुः।।

जीवन को, जीवित रख सकती प्रजापाल के बिना प्रजा।
प्रजापाल पर कहाँ रहे ओ ! कहाँ सुखी हो बिना प्रजा।।
निश्चित ही पर-आश्रित है वह स्वयं भला क्या सिन्धु रहा?
किन्तु बिन्दु निज आश्रित है यह सिन्धु हेतु है बिन्दु रहा।।३४।।

अर्थ -- इस जगत् में राजा के विना उत्तम प्रजा भले ही रह सकती है परन्तु प्रजा के विना राजा नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रजा के रहने पर ही प्रजापति – राजा संज्ञा प्राप्त होती है। अतः राजा प्रजा के अधीन होने से परतन्त्र है, प्रजा स्वतन्त्र है। पानी की बूँद सागर के विना स्वतन्त्र रह सकती है परन्तु बूंदों के विना सागर का अस्तित्व नहीं रह सकता, क्योंकि बूंदों का समूह ही सागर कहलाता है।।३४।।

भोगानुवृत्तिर्विधिबन्धहेतु-र्योगानुवृत्तिर्भवसिन्धुसेतुः।
बीजानुसारं कलितं फलं तत्,किं निम्बवृक्षे फलितं रसालम्।।

भोगी बन कर भोग भोगना भव बन्धन का हेतु रहा।
योगी बन कर योग साधना भव-सागर का सेतु रहा।।
जैसा तुम बोओगे वैसा बीज फलेगा अहो! सखे।
निम्ब वृक्ष पर सरस आम्रफल कभी लगे क्या? कहो सखे! ।।३५।।

अर्थ – भोगों का अनुगमन कर्मबन्धन का कारण है और योग का अनुगमन संसार–सागर का पुल है। जगत् में बीज के अनुसार ही फल प्राप्त होता है। क्या नीम के वृक्ष पर आम फलता है? अर्थात् नहीं।।३५।।

त्यक्तस्तु संगो गतमोहभावै-स्तत्रानुभूतो न हि कष्टलेशः।
स्निग्धत्वहीनात् पलितं च पत्रं, तत् पादपात् वा पतितं स्वभावात्।।

मोह भाव से दूर हुआ है, साधु परिग्रह त्याग रहा।
समता से भरपूर हुआ है उसे कष्ट नहिं जाग रहा।।
चिकनाहट से रहित हुआ हैं पात पका है पलित हुआ।
सहज रूप से बाधा बिन ही पादप से वह पतित हुआ।।३६।।

अर्थ -- मोहभाव से रहित मनुष्यों के द्वारा जो परिग्रह छोड़ा गया है उसमें उन्होंने रंच मात्र भी दुःख का अनुभव नहीं किया है। पका पत्र जैसे सरसता से रहित वृक्ष से टूट कर पड़ता है तो वह स्वभाव से पड़ता है।।३६।।

अक्षार्थरागो भवदुःखदाता, धर्मानुरागोः भवसौख्यदाता।
प्रभातरागे शृणु सान्ध्यरागे, किमन्तरं तत्र महन्न मित्र !।।

विषयी का बस विषयराग ही भवदुख का वह कारण है।
भविकजनों का धरम राग ही शिवकारण दुखवारण है।।
सन्ध्या में भी लाली होती प्रभात में भी लाली है।
एक सुलाती एक जगाती कितने अन्तर वाली है।।३७।।

अर्थ – इन्द्रियविषयसम्बन्धी राग सांसारिकदुःख का देने वाला है और धर्मसम्बन्धी राग सांसारिकसुख का देने वाला है। सुनो मित्र! क्या प्रभात की लाली और संध्या की लाली में बड़ा अन्तर नहीं है? अवश्य है।।३७।।

उन्मत्ततोऽ प्यत्र सुपीतमद्यात्, सुपीडितात् वृश्चिकदंशनेन।
कपेश्च चित्तं चपलं नराणां, धन्यो यमी यस्य लयं गतं तत्।।

वैसा वानर चंचल होता मदिरा पीता पामर है।
बिच्छू ने फिर उसको काटा और हुआ वह पागल है।।
उससे भी मानव मन की अति चंचलता मानी जाती।
धन्य रहा वह विजितमना जो जिनवर की वाणी गाती।।३८।।

अर्थ – इस जगत् में मनुष्यों का चित्त उस वानर से भी अधिक चञ्चल है जो स्वभाव से पागल है, जिसने मदिरा पी ली है और विच्छू के काटने से अत्यन्त पीडित है। वह मुनि धन्य है जिसका कि चित्त विलीनता को प्राप्त है–स्थिर है।।३८।।

तथा प्रतीतिस्तु सुखस्य तत्र, सुखं न लेशं निजमोहभावात्।
अर्थेषु खानां जलमन्थनेन, फेनानुभावो हि तदाप्युदेति।।

पंचेन्द्रिय के विषयों में जो प्रतीति सुख की होती है।
मोह-भाव की परिणति है वह स्वरीति सुख को खोती है।।
जल का मन्थन करने वाला पाता नहिं नवनीत कभी।
किन्तु फेनका दर्शन पोता मति होती विपरीत तभी।।३९।।

अर्थ – आत्मविषयक अज्ञानभाव से इन्द्रियों के विषयों में सुखित्व की प्रतीति भले ही हो परन्तु उसमें सुख का लेश भी नहीं होता। जैसे जल के मन्थन–विलोलने से फेन की अनुभूति तो उस समय होती है परन्तु घी का अंश भी प्राप्त नहीं होता।।३९।।

मार्ग स्मृते र्यस्य गतो जिनेन्द्रोऽ-प्येनो गतं तस्य लयं समस्तम्।
नदादिनीरं मलिनं निरस्तं,वागस्त्ययोगे भवतात् पवित्रम्।।

वीतरागमय जिनवर का वह जिसके मन में स्मरण हुआ।
ज्ञात रहे यह बात, उसी के पाप बाप का मरण हुआ।।
सावन में सरवर सरिता का मलिन रहे वह सलित भले।
अगस्त का जब उदय हुआ बस! विमल बने जल, कलित टले।।४०।।

अर्थ – जिनेन्द्र देव जिसके स्मरण पथ को प्राप्त हैं, जो जिनेन्द्रदेव का ध्यान करता है उसके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। जैसे नदी आदि का मलिन पानी शरद् ऋतु में निर्मल होता हुआ पवित्र हो जाता है।।४०।।

अयत्नदृष्टान् श्रुतकान् परेषां, दोषान् दयाधाम-निवासिनस्ते।
स्वप्नेऽपि वाङ्मानसकाययोगै- र्नोद्घाटयन्ति प्रशमाश्च सन्तः।।

किसी पुरुष के दोष कभी भी होश बिना जो किये गये।
अनायास ही सुधीजनों से सुने गये हो लखे गये।।
तन मन वच से कहें न पर को जग में वे जयवन्त रहे।
सदा दया के निलय बने जो शान्तमना हैं सन्त रहे।।४१।।

अर्थ – दयारूप घर के निवासी, शान्तपरिणामी सज्जन, स्वयं दुष्ट और सुने दूसरों के दोषों को मन–वचन–कायरूप योगों से स्वप्न में भी प्रकट नहीं करते हैं।।४१।।

भवाभिमुक्ता न भवे विभावे, पुनश्च भीमेऽवतरन्ति दुःखे।
तैलं तिलं तच्च घृतं तु दुग्धं, पूर्वस्वरूपं न पुनः प्रयाति।।

महा भयानक दुस्सह दुःखमय-भवसागर के पार गहें।
स्वभाव तज कर विभाव-भव में जिनवर नहिं अवतार गहें।।
तेल निकलता है तिल से, घृत तथा दूध से वह निकले।
किन्तु तेल तिल में नहिं बदले, नहीं दूध में घृत बदले।।४२।।

अर्थ – संसार से मुक्त सिद्धपरमेष्ठी अशुद्ध भव–संसार अथवा पर्याय और भयंकर दुःख में पुनः नहीं आते। जैसे तेल अपने पूर्वरूप तिल को और घी अपने पूर्व रूप दूध को प्राप्त नहीं होता।।४२।।

लुब्धः स मुग्धो विषयेष्वघात्मा, सम्प्राप्तदृष्टिस्तु ततोऽस्तु भिन्नः।
करोतु नृत्यं मृदुमोदकान् वा, खादन् स बालोऽत्र तथा न वृद्धः।।

लुब्ध हुआ है विषयों में अति मुग्ध कुधी वृषरीत रहे।
ज्ञानी की तुम बात पूछते जग से वह विपरीत रहे।।
बालक को जब मोदक मिलता खाता खाता नृत्य करे।
किन्तु वृद्ध वह यद्यपि खाता नृत्य करे ना तथ्य अरे।।४३।।

अर्थ – विषयों में लुभायाः मोही मनुष्य पापी है परन्तु सम्यग्दृष्टि उससे भिन्न हो। जैसे कोमल लड्डुओं को खाता बालक नृत्यं करता है, वृद्ध नहीं।।४३।।

न नाग्न्यमात्रं भवमुक्तिहेतु-श्चित्तस्य नैर्ग्रन्थ्यमपीति शास्त्रम्।
गवादयो ये पशवोऽपि नग्ना-स्त्रस्ताः कथं स्युः शिवमन्यथा स्यात्।।

नग्न दिगम्बर तन से होना केवल यह पर्याप्त नहीं।
किन्तु विमलता साथ रहे वह मन की, कहते आप्त सही।।
ऐसा यदि ना, श्वान सिंह पशु नग्न सदा हैं सुखित बनें।
किन्तु कहां? वे सुखित बने हैं रहें निरन्तर दुखित घने।।४४।।

अर्थ – केवल नग्नता ही मोक्ष का कारण नहीं है किन्तु मन की निर्ग्रन्थता भी उसके साथ कारण है ऐसा शास्त्र में कहा है। यदि ऐसा न हो तो जो बैल आदि पशु नग्न हैं वे दुःखी क्यों हैं? उन्हें भी शिव–कल्याण अथवा मोक्ष प्राप्त होना चाहिये।।४४।।

गन्तुं लयं स्वात्मनि तेऽस्ति वाञ्छा त्वयार्जवं चेतसि संश्रितं स्यात्।
वक्रागतिर्यद्यपि सोरगाणां, बिलप्रवेशे सरलैव दृष्टा।।

परम शान्त निज आतम में यदि जा बसने की चाह रही।
भक्ति-भाव से भजो सरलता तजो कुटिलता 'राह यही'।।
कुटिल-चाल से चलता है अहि बाहर में यह उचित रहा।
बिल में प्रवेश जब करता है 'सरल चाल' हो, विदित रहा।।४५।।

अर्थ – हे भव्य ! स्वकीय आत्मा में लीनता प्राप्त करने की तेरी इच्छा है तो तुझे चित्त में सरलता का सेवन करना चाहिये। जैसे सांपों की वह प्रसिद्ध गति यद्यपि कुटिल है तथापि बिल में प्रवेश करते समय सीधी ही देखी गयी है।।४५।।